विपश्यना

[साधकों का मासिक प्रेरणापत्र]

रजि. नं. १९१५६/७१
पोस्टल रजि. नं. NS (M)-16/84

वर्ष १३ ● बम्बई ● बुद्धवर्ष २५२८ ● ज्येष्ठ पूर्णिमा [शक] ● दि. १३-६-१९८४ ● अंक १२

सार्वजनीन प्रवचन

विपश्यना कैसे करे ? याने यथाभूत सत्यको साक्षीभावसे कैसे देखे ? द्रष्टाभावसे कैसे देखे ? साक्षीभाव वह, द्रष्टाभाव वह कि जिसमें जरा भी राग न जगने पाए, द्वेष न जगने पाए। यथाभूत जैसा है उसको वैसा ही जाने। न उसको अच्छा माने, न बुरा माने। किसी भी अनुभूति को अच्छा मान लिया कि उसके प्रति राग जगने लगेगा। बुरा मान लिया कि उसके प्रति द्वेष जगने लगेगा। भोक्ताभावके बाहर निकले और जो सत्य जैसा है उसे साक्षीभावसे देखने लगे तो परतें उतरने लगती हैं। घूंघटके पट खुलने लगते हैं। खुलने ही लगते हैं।

यह सारा शरीर स्कंध कितना स्थूल ? कितना घनीभूत ? आरंभ करते हैं तो यही अनुभूति होगी। कितना सघन, कितना घनीभूत ? इसी तरह सारा मानस कितना स्थूल, कितना घनीभूत ? अब टुकड़े होने शुरू हुए तो टुकड़े करते-करते साधक भौतिक शरीर के अंतिम सत्य तक जा पहुँचा। नन्हें से नन्हें परमाणु कण तक। सारा शरीर ऐसे नन्हें-नन्हें परमाणुकणों से बना हुआ, जिनमें प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय, उत्पाद व्यय हो रहा है। सारा चित्त-स्कंध ऐसी ही तरंगोंसे बना हुआ जिसमें प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय हो रहा है। तो यों टुकड़े होते-होते यह सारा स्थूल शरीर, यह सारा घनीभूत मानस केवल तरंगें ही तरंगें, केवल तरंगें ही तरंगें। कहीं सघनताका नामोनिशान नहीं। ऐसा अनुभव होने लगा। परन्तु फिर एक जगह आकर गाड़ी अटक गयी। एक छोटे से तिल जैसी जगह गाड़ी अटक गयी। अब इसका भेदन कैसे हो ? साधक फिर विपश्यना का सहारा लेता है। उसे भी साक्षीभावसे देखते ही जाता है, देखते ही जाता है तो तिल जैसी छोटी सी सच्चाई के भी टुकड़े होते हैं। तो "ठाकुर मिल गया तिल ओले"। मिल गया ठाकुर। तिल के पीछे छिपा हुआ परम सत्य मिल गया। अब क्या बोलेगा ? किन शब्दोंमें बोलेगा ? उस गगन में तो कोई शब्द समा नहीं सकता। "सबद जु कहाँ समाई ?" किन शब्दोंमें अपनी अनुभूति समझायेगा ? गूंगे का गुड़ हो गया। कैसे बोले ? परम सत्य का वर्णन शब्दोंमें नहीं हो सकता। शब्दातीत ! वर्णनातीत। इंद्रियातीत ! क्या बोले ? कैसे बोले ? बोल ही नहीं सकता।

धम्म वाणी

यदा असोकं विरजं असंखतं
सन्तं पदं सब्ब किलेस सोधनं।
भावेति संयोजन बंधनच्छिदं
ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥

थेरगाथा - ५२१.

जब कोई साधक शोक-विहीन, रजविहीन, असंस्कृत, सर्व क्लेश शोधक परम शांत पद निर्वाण का साक्षात्कार कर उसे भावित करता है और इस अभ्यास द्वारा अपने संयोजन-बंधन तोड़ता है तब जिस परमानन्द का अनुभव करता है उससे बढ़कर और कोई आनंद नहीं होता।

"मन मगन हुआ अब क्या बोले ? ठाकुर मिल गया तिल ओले।"

ठाकुर मिल गया। ऐसा परम सत्य प्राप्त हो गया। किसी को प्राप्त हो गया और हम उसकी खुशियाँ मनाए जा रहे हैं। हमें क्या मिला भला ? हर व्यक्ति को सत्यका साक्षात्कार स्वयं करना होगा। अन्तर्मुखी होकर स्वयं देखना होगा।

विमूढ़ा नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।

मूढ़ लोग नहीं देख पायेंगे, जिनके ज्ञान-चक्षु जागें वही देख पायेंगे। विपश्यना ज्ञानचक्षु जगाने की विद्या है।

२५०० वर्ष पूर्वका इसी देशका एक महापुरुष कहता है – अरे, अपने भीतर खोजो भाई। क्या मिलेगा बाहर ? कैसा खजाना तुम्हारे भीतर है ? अनंत शांतिका खजाना है तुम्हारे भीतर। अन्दर की खोज करो। इन महापुरुष भगवान बुद्धने स्वयं अपने भीतर खोज की तो ज्ञानके चक्षु खुल गये उनके – "पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु चक्खुं उदपादि, ञाणं उदपादि, पञ्ञा उदपादि, विज्जा उदपादि, आलोको उदपादि"। सारा अंधकार दूर हो गया। आलोक ही आलोक, आलोक ही आलोक। ज्ञान के चक्षु खुल गये न ? "विमूढ़ानानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।" ज्ञान के चक्षु, अपनी अनुभूति पर जो सत्य प्रकट हो रहा है साधक उसे

यथाभूत देखना शुरू करता है। बस इसी को ज्ञानचक्षु कहते हैं। यही विपश्यना है – भारतकी बहुत पुरानी विधि, बहुत पुरानी निधि। २५०० वर्ष पूर्व का यह महापुरुष भारत की इस पुरानी संपदा को जिसे भारत उस समय तक खो बैठा था, बड़े प्रयत्न से एक वैज्ञानिक की तरह शोध करते-करते खोज निकालता है। खोज कर उससे स्वयं अपना कल्याण साध लेता है और फिर बड़े करुण-चित्त से औरोंको बांटने लगता है। ४–५ सौ वर्षों तक यह कल्याणकारिणी विद्या इस देशमें कायम रही और जन-कल्याण करती रही। परन्तु फिर विकृत हुई और विलुप्त हो गयी। जब सब कुछ अनित्य है तो यह विधि भी अनंतकाल तक कैसे रहती ? तो यह विद्या भी समाप्त हुई। पर जागती है, बार बार जागती है इस देश में। ऐसा धर्म देश है यह। यहीं जागता है शुद्ध धर्म, सत्य धर्म। सच्चाई को ही धर्म माननेवाली जो विद्या है वह सत्य धर्म की विद्या यहीं जागती है। बार बार जागती है, लुप्त होती है। जागती है, लुप्त होती है। पूर्व काल में भी अनेक बार जागी है, लुप्त हुई है।

इसी देशका ऋग्वेदका एक ऋषि, ऋषि उसको कहते हैं जो ऋत का दर्शन करता है, सत्य का दर्शन करता है; ऋग्वेदका ऐसा एक ऋषि कहता है – क्या कहता है ?

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना,
सं च पश्यति, स नः पूपाविता भवद्।*

ऋग्वेदका ऋषि जान गया विपश्यना के महत्व को तो कहता है जो विपश्यना करता है – कैसे करता है ? विश्वाभि – विश्वके अभिमुख होकर करता है पुरानी भाषा है। किसको विश्व कहते थे ? जिसका प्रतिक्षण विशदीकरण हो रहा है, जो प्रतिक्षण फैल रहा है। अनंत तक फैलता ही जाता है, कोई सीमा नहीं जिसकी, उसको विश्व कहते हैं। यह जो प्रपंच हमारे भीतर फैल रहा है, फैल रहा है। एक विकार शुरू करो भीतर, फिर देखो कैसे फैलता है ! जरा सा क्रोध शुरू किया कि फैलेगा, फैलेगा। फैलता ही चला जायेगा। वासना शुरू करो, फैलेगी, फैलेगी। भय शुरू करो, फैलेगा, फैलेगा। अरे, यह प्रपंच जो भीतर फैल रहा है उसके अभिमुख हो करके जो "विश्वाभि विपश्यति" विपश्यना करता है – "भुवना" भूतकाल नहीं, भविष्य नहीं, अब जो भावित हो रहा है, इसी समय जो घटना घट रही है, वर्तमान की जो घटना घट रही है, वर्तमानमें जो प्रपंच चलना शुरू हुआ है इसको अभिमुख होकर देखता है – वह विपश्यना करता है। "सं च पश्यति" सम्यक् रूपसे देखता है। कैसे सम्यक् रूपसे देखता है ? जैसा है वैसा ही देखता है। उस पर कोई रंग-रोगन नहीं चढ़ने देता। किसी रंगीन चश्मेसे नहीं देखता। नहीं तो चश्मेका रंग बीचमें आ जायेगा। राग के चश्मेसे नहीं देखता, द्वेष के चश्मेसे नहीं देखता, "मैं-मेरे" के चश्मे से नहीं देखता। बस जैसा है वैसा है। इसको "सं च पश्यति" कहते थे। ऐसा व्यक्ति "पूपाविता" पूज्य हो जाता है। क्यों पूज्य हो जाता है ? क्योंकि पावन हो जाता है, निर्मल चित्त हो जाता है, शांत हो जाता है शुद्ध, बुद्ध हो जाता है। संत, अर्हन्त, स्थितप्रज्ञ हो जाता है। तो पूज्य होगा ही। सारे विश्व में पूज्य हो जायेगा। भारत ने ऐसे महापुरुष पैदा किये जो सारे विश्व में पूज्य हो गए। क्यों हो गये ? अपने भीतर के सत्यका साक्षात्कार कर लिया उन्होंने। भीतर से अपने ज्ञान-चक्षु जागे उनके। बुद्धि से चिंतन करने पर परम सत्यका साक्षात्कार नहीं होता। श्रद्धा के स्तर पर स्वीकार कर लेने से परम सत्यका साक्षात्कार नहीं होता। परम सत्यका साक्षात्कार होता है तब जब कि स्वय अपनी अनुभूतियों के स्तर पर जो सत्य प्रकट हो उसे यथाभूत, जैसा है वैसा जानता रहे। न उसको अच्छा माने, न बुरा। इस साढ़े तीन हाथ की कायामें चाहे जैसी अनुभूति होती चली जाय, न उसके प्रति राग हो, न द्वेष। तटस्थ भावसे केवल देखता जायेगा, देखता जायेगा तो ज्ञान चक्षु खुलेंगे, खुलते ही चले जायंगे।

"विमूढ़ानानु पश्यान्ति, पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः।"

ऐसा ही इस देशका एक और महापुरुष कह गया।

"आयतचक्खु लोग विपस्सी"।

भगवान महावीरने यही किया। विपश्यना की। लोग याने लोक कहते हैं इस साढ़े तीन हाथकी काया को। "लुंजति इति लोकः" प्रतिक्षण जो नष्ट हो रहा है ऐसे परमाणुओंका पुंज। ऐसे परमाणु पुंजोंकी विपश्यना करने लगे तो "आयत चक्खु" ज्ञानके चक्षु प्राप्त हो जाय। परम सत्य तक पहुँच जाय "एस वीरे पसंसिए" ऐसा व्यक्ति ही सही मानेमें वीर है, महावीर है, प्रशंसाके योग्य है जो विपश्यना द्वारा बंधनमुक्त हो जाता है। कैसे ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं ? कैसे अनुभूतियोंके स्तर पर भीतर की सच्चाई की जानकारी होने लगती है ? इसे समझाया गया –

"उत्क्रामन्तं स्थितं वा पि, भुजानं वा गुणान्वितं।
विमूढा नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥"

जरा अन्तर्मुखी होकर सच्चाई को देखने लगे तो पता लगेगा कि यह प्रपंच कैसे चल रहा है ? भीतर ही भीतर क्या हो रहा है ? यह जो हमारी इंद्रियाँ हैं –– आंखें हैं, कान हैं, नाक है, जीभ है, त्वचा है–– यह बिल्कुल निर्जीव हैं, बिल्कुल काम नहीं कर पायेंगी; जब तक कि मानसका एक खण्ड इनके साथ नहीं लग जायेगा। वह खण्ड जिसका काम जानना है। जैसे ही किसी इंद्रिय के दरवाजे पर कुछ टकराया –– जैसे कान पर कोई शब्द टकराया अथवा आंख पर रूप, नाक पर गंध, जीभ पर रस या त्वचा पर स्पर्शव्य पदार्थ टकराया और इसी प्रकार मन पर कोई चिंतन टकराया, वैसे ही मानसका यह खण्ड सिर उठायेगा और कहेगा कि कुछ हुआ भाई ! कुछ खटपट हुआ ! इसीको कहा "उत्क्रामन्त"। अब मानसका दूसरा खण्ड अपना सिर उठायेगा– "स्थित" याने रुककर देखेगा कि क्या हुआ ? यह शब्द आया तो कैसा शब्द है ? गालीका या प्रशंसा का ? अब तक की अपनी जितनी अनुभूतियाँ हैं, याददास्त है उसके आधार पर उसे पहचानेगा। मानसके इस दूसरे खंडका काम पहचानना है। यह केवल पहचानता ही नहीं, उसका मूल्यांकन भी करता है।

*स नः पूपाविता ... वह पोषण करने वाले की तरह पूज्य हो जाता है।

शब्द गालीका आया तो बहुत बुरा है, प्रशंसा का आया तो बहुत अच्छा है। जैसे ही उसने पहचाना, मूल्यांकन किया कि मानसका तीसरा खंड अपना सिर उठाता है। सारे शरीरमें एक संवेदना होने लगती है। यदि मूल्यांकन किया गया कि बहुत अच्छा है तो सारे शरीरमें सुखद संवेदना जागेगी। यदि मूल्यांकन किया गया कि बहुत बुरा है, तो सारे शरीर में दुःखद संवेदना जागेगी। होश नहीं रहता तो इस सुखद संवेदनाका सुख भोगने लगता है अथवा दुखद संवेदनाका दुख भोगने लगता है। तो "भुञ्जानं" लगा भोगने, लगा भोगने। और "गुणान्वितं" लगा बंधने, लगा बंधने। गांठें ही गांठें बांधता है। जब तक भीतर ही भीतर भोगनेका काम करता है तब तक गांठें ही गांठें बांधता है, बंधन ही बंधन बांधता है। यह सारा प्रपंच जो देखने लगता है वही "विश्वाभि विपश्यति भुवना" वही देखता है। तो सचमुच ज्ञानके चक्षु खुले। कल्पना नहीं करता, तर्क-वितर्क नहीं करता, बुद्धि-विलास नहीं करता। वास्तविक रूपसे मानस किस प्रकार काम कर रहा है भीतर ही भीतर। एक वैज्ञानिक की तरह शोध करता है अपने भीतर की सच्चाई का। तो सारा शरीर स्कंध जो इतना ठोस लगता है उसकी तरंगें ही तरंगें, तरंगें ही तरंगें महसूस होने लगती हैं। इसी प्रकार सारा मानस स्कंध किस प्रकार काम कर रहा है -- जाननेवाला हिस्सा जानता है, पहचाननेवाला हिस्सा पहचानता है, संवेदनशील होनेवाला हिस्सा संवेदनशील होता है, प्रतिक्रिया करनेवाला हिस्सा प्रतिक्रिया करता है और हर प्रतिक्रिया राग पैदा करती है, द्वेष पैदा करती है, विकार पैदा करती है और बंधन ही बंधन, बंधन ही बंधन।

जब साधक अपने इस रोगको स्वयं देख लेता है तब रोग के बाहर निकलना आसान हो जाता है। अब तो जानने लगा न! बुद्धिविलास नहीं है। अन्धश्रद्धा की मान्यता नहीं है। आग पर हाथ रखते ही हाथ जलता है, ऐसा अनुभूतियों से जान गया न! अब आग पर हाथ रखते हुए ठिठकेगा। आग पर हाथ नहीं रखना चाहिए, जला देगी आग। ऐसे ही विकार पैदा हुआ कि जान जायेगा -- विकार पैदा हुआ! अरे, विकार पैदा हुआ है! बंधने लगा, संतापित होने लगा, व्याकुल होने लगा। जब अपने भीतर सच्चाईको देखनेका काम शुरू करेगा तो शुरू करते ही यह होने लगेगा कि जब-जब मनमें कोई विकार जागता है, क्रोध जागे, कि द्वेष जागे. कि भय जागे, कि ईर्ष्या जागे, कि वासना जागे, जो विकार जागे तुरन्त व्याकुल बना देगा। इन विकारोंकी वजह से जो व्याकुलता जागी उसे ही साक्षीभावसे देखने लगा तो विकारों से छुटकारा पानेका रास्ता मिल गया, मुक्तिका रहस्य खुल गया। अपने भीतर सच्चाईकी शोधका यह काम, अपने दुःखोंसे विमुक्तिका काम, अपने विकारोंसे विमुक्तिका काम स्वयं ही करना होता है।

भारतकी यह अनमोल संपदा, बहुत पुरातन संपदा न जाने कितनी बार भारत में जागी और फिर लुप्त हुई। फिर जागी और फिर लुप्त हुई। भारतकी अनमोल संपदा फिर भारत में आयी है। भारतके लोगोंको भारतकी यह पुरातन निधि, यह पुरातन विधि मुबारक हो! इस विधि से सबका मंगल हो! सबका कल्याण हो! सब दुःख-मुक्त हों! भारतकी यह पुरातन विधि विश्व के सारे दुखियारोंके दुख दूर करनेका कारण बन जाय। विश्व के सारे लोगों को मुबारक हो! सबका मंगल करे! सबका कल्याण करे! सही मानेमें भारत सारे संसारकी सेवा करने लायक हो जाय। अपना भी मंगल साध ले, औरों का भी मंगल साधनेमें सहायक हो जाय। भारत का हर व्यक्ति भारतकी इस पुरातन धरोहर को, अपने पूर्वजों की धरोहर को संभाले। स्वयं अपने दुःखोंसे मुक्त हो! स्वयं अन्तर्मुखी होकर अपने प्रज्ञा-चक्षु जगाएँ, सारे विकारोंके बंधनों को तोड़ें। परम सत्य का साक्षात्कार करें! अपना मंगल साधें! अपना कल्याण साधें! अपनी स्वस्ति-मुक्ति साधें तथा औरोंकी स्वस्ति-मुक्तिमें, मंगल-कल्याण में सहायक हो जाँय!

सबका मंगल हो! सबका कल्याण हो। सबकी स्वस्ति-मुक्ति हो! सबकी स्वस्ति-मुक्ति हो! भवतु सब्ब मंगलं!

स. ना. गो.

विपश्यना : जीवन में :

सरल, सादा सुलझा हुआ बचपन, गांधी और विनोबाजी के आश्रम से शुरू हुआ। दिमाग पर किसी भी प्रकार का कोई साम्प्रदायिक लेप नहीं। लेकिन समय बीतने के साथ-साथ मन पर अनगिनत जानी-अनजानी लकीरें बनती रहीं, कुछ प्रत्यक्ष कुछ अप्रत्यक्ष। चाहकर भी इसे दूर करने का उपाय नहीं मिल सका। शारीरिक एवं मानसिक स्थिति यहाँ तक आ गयी कि डाक्टरों का प्रयत्न, इलाज नाकामयाब हो गया। पारिवारिक शान्ति होते हुए भी मन पर मनचाही-अनचाही बातों का इतना दबाव पड़ने लगा कि २०-२० दिन तक तनाव और खिंचाव के बीच रहने की नौबत आ जाती। इसी बीच विपश्यना के बारे में सुना, लेकिन इसके व्यावहारिक पक्ष का लाभ सन १९८१ के मई माह में मिला। पू. गुरुदेव के प्रथम दर्शन में ही ऐसा लगा कि चिर-परिचित हो। लम्बे इंतजार के बाद रात्रि ८ बजे ध्यान कक्ष में प्रवेश मिला। पू. गुरुदेव का निर्देश बड़े ध्यान से सुनती और जैसे जैसे वे समझाते वैसा अनुभूतियों से जानने का क्रम चलता रहा। प्रथम तीन दिन तो बड़े द्वन्दात्मक लगे, लेकिन जानने की प्रबल इच्छा शक्ति के कारण टिकी रही। प्रथम शिविर में जितने भी पुराने संस्कार निकले अब आगे नहीं बनने देना है। इसका प्रयत्न चलता रहा। अन्तिम कहानी "बूढ़े के पाँच दाने" से इतना प्रभावित और भाव विह्वल हुआ कि उसका प्रगटीकरण सजल नेत्रों द्वारा बरबस उमड़ पड़ा। इतनी बड़ी विद्या का संवर्धन मैं भी करता रहूँ इसकी शक्ति पू. गुरुदेव से मांगी।

यह ऐसी विद्या है, मार्ग है जिसकी निरन्तरता से विकारों की दीवार ढहता चली जाती है। सही माने में मनुष्य जीवन जीने की कला सीखता है। पू. गुरुदेव की सारी बातें बुद्धि के स्तर पर तो समझ में आई थीं परन्तु अब अनुभूतियों के स्तर पर भी स्पष्ट होते देखती हूँ तो सहज ही इस विद्या के प्रति कृतज्ञ हो जाती हूँ। मार्ग बहुत लम्बा है। अभी तो सीढ़ियाँ चढ़ने का काम प्रारम्भ किया है। इससे मन में काफी निर्मलता एवं जागरूकता, राग-द्वेष-मोह के नये संस्कारों से छुटकारा, शरीर और चित्त के स्तर पर नित्य स्वस्थता की अनुभूति साक्षी भाव की ओर बढ़ने का प्रयास, यह सब इस कल्याणकारी विद्या का ही प्रभाव है।

पुनः पू. गुरुदेव को शत शत प्रणाम। करुणा. जयपुर।

साधकों के उद्गार

चूरू (राजस्थान) की इतिहास प्रकाशन समितिके निदेशक पं. मुरलीधर सारस्वत लिखते हैं, "अपने जीवनके गौरवशाली व्यक्तित्व और सफल साधना-प्रसारका दिव्य कार्य सम्पादन करके जीवनके ६० बसंतोंकी छवि देख चुके हैं। जीवनके मर्म को हृदयंगम करानेवाली साधनाका जिस उत्तम विधि से आपने भारत-व्यापी ही नहीं अपितु विश्व-व्यापी प्रसार हेतु जो उपक्रम किये हैं वे सर्वथा स्तुत्य हैं।

भगवान बुद्ध द्वारा कठोरतम साधनासे प्राप्त यह अमोल निधि भारत से प्रायः लोप ही हो चुकी थी। उसको कठिन श्रमसे अर्जित कर उसकी गौरवशाली शक्तिका अमृत-घट जन-जन तक पहुँचानेका दृढ़-संकल्प कर तन-मन-धनसे उसके लोक-व्यापी प्रसार-का प्रयत्न प्रारंभ किया, वस्तुतः उसका बड़ा ही कल्याणकारी सुपरिणाम सामने आ रहा है। सचमुच वह दिन दूर नहीं है जब लोग सच्ची लगन से उसकी उपासना करने में अपने को संलग्न करेंगे।

आसाम, कलकत्ता और बिहार तथा नेपाल अंचलके अनेक भूभागों तक "विपश्यना" के साधक बड़े प्रेम और ममतासे अपने गुरु-भाइयोंसे मिलकर एक अतीव आनंदका अनुभव करते हैं।

प्रभु से इस अवसर पर प्रार्थना है कि वह आपको दीर्घायु करे, बड़ी लंबी उमर प्रदान करे ताकि आप इस साधनाके अमर तत्वको जन-जन तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त कर सकें। क्योंकि आजकी इस भीषण स्थिति में, जबकि संसार महाविनाशके कगार पर खड़ा है, इस अनमोल साधनाने उसे आशाका दिव्य संदेश दिया है। जीवनके असली तत्वको हृदयंगम करनेमें यह साधना संजीवनी बूटीका काम ही करेगी।"

●

कनाडाकी साधिका कैरोल नरोनेचिनी जो कि अध्यापिकाका काम करती है, लिखती है, "इस साधनाकी वजहसे मन अधिकतर वर्तमान सच्चाई में लगा रहने लगा है। मानसिक दुश्चिंताओं से विमुक्ति मिलने लगी है। सचमुच विपश्यना साधना आश्चर्यजनक है।

मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–११० ००७.
की मंगल कामनाओं सहित
↓

दूहा धरम रा

बढ़तो ही बढ़तो र वै, अन्तर दुख परपंच।
ग्यान चक्खु सूं देखताँ, दुक्ख र वै ना रंच ॥१॥
बारै बारै भटकतां, उलझण बढती जाय।
भीतर कर्‌याँ बिपयस्ना, ग्यान चक्खु खुल जाय ॥२॥
दुख-सुख का कारण कठै? बारै ढूढै मूढ़।
भीतर कर्‌याँ बिपस्यना, प्रगटै कारण गूढ़ ॥३॥
भोगत भोगत भोगताँ, बंधन बँधै अनेक।
बिपस्यना सूं देखता, र वै न दुख की रेख ॥४॥
दुख चक्कर भीतर चलै, मूढ़ सकै ना देख।
ग्यान चक्खु जीं का खुल्या, सांच सकै बो देख ॥५॥
देखै अपणै आप नै, समझै अपणो आप।
ज्यूं ही आपो जाणग्यो, त्यूं छुटग्या भव ताप ॥६॥

दोहे धर्म के

घनीभूत काया लगे, प्रकट सत्य यह ठोस।
ज्ञानचक्षु से देखते, बने भोर की ओस ॥१॥
घनीभूत यह चित लगे, जब जागे आवेश।
ज्ञानचक्षु से देखते, होय सघनता शेष ॥२॥
केवल बुद्धि-विलास से, मुक्त हुआ ना कोय।
ज्ञानचक्षु जिसके खुले, सहज मुक्त है सोय ॥३॥
चर्म-चक्षु से देखते, दर्शन भ्रामक होय।
जागे प्रज्ञा-चक्षु जब, दर्शन सम्यक् होय ॥४॥
देह विपश्यो जो हुआ, लोक विपश्यो सोय।
सहज चक्षु उसके खुले, सम्यक् दर्शी होय ॥५॥
वही पूज्य है, बुद्ध है, महावीर है सोय।
जो खोले निज ग्रंथियाँ, काय विपश्यी होय ॥६॥

सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट के लिए प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामी [illegible] धम्मगिरि, इगतपुरी ४२२ ४०३. द्वारा प्रकाशित तथा मुद्रण स्थान : अक्षरचित्र मुद्रणालय, सातपूर, नासिक–४२२ ००७. टेलिफोन : ८८२५१ ◉ वार्षिक शुल्क रु. १०/- आजीवन शुल्क रु १००/-

"विपश्यना" 6/84

Licence No. NS-[illegible]
Licensed to post without pre-payment

पो. र. नं. NS(M) 16/84

प्रेषक :
सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट
विपश्यना विश्व विद्यापीठ
धम्मगिरि, इगतपुरी–४२२४०३.
(नासिक, महाराष्ट्र)